बांग्ला साहित्य एवं हिंदी सिनेमा में परिवर्तित स्त्री-छवि

डॉ. मनीषा अरोड़ा

असिस्टेंट प्रोफेसर

हिन्दी विभाग

श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

ईमेल- aroramanisha14@yahoo.com

सार

विधागत असमानता के बावजूद साहित्य और सिनेमा के बीच करीबी रिश्ता है। साहित्य जीवन के यथार्थ और उसकी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता है और सिनेमा भी अपने 'टूल्स' से जीवन-यथार्थ और आकांक्षाओं को पकड़ता है तथा उसके फलक का विस्तार करता है। वास्तव में सिनेमा एक ऐसी कला है, जिसमें भिन्न-भिन्न कलाओं का समायोजन मिलता है। इस शोध-पत्र में बांग्ला की उन साहित्यिक कृतियों और उनके सिनेमाई रूपांतरणों को आधार-सामग्री के रूप में इस्तेमाल किया गया है, जिनमें स्त्री-अस्मिता के प्रश्न मुखर रूप में मौजूद हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में स्त्री-अस्मिता की अवधारणा और उसके विविध-परिप्रेक्ष्यों के आलोक में बांग्ला की साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई रूपांतरों का विश्लेषण किया गया है। बांग्ला कृतियों पर बनी फिल्मों ने स्त्री-अस्मिता के संदर्भ में 'मुक्ति बनाम भय' और 'शुचिता बनाम स्वच्छंदता' के विमर्शों को प्रभावी तरीके से सामने रखा। इन फिल्मों ने स्त्री की पीड़ा, बेचैनी, कैद और उसके व्यक्तित्वांतरण को समग्रता में अभिव्यक्त किया और सामंती शुचिता के सभी तयबद्ध फार्मूलों को खारिज़ किया।

बांग्ला की साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई रूपांतरण की दृष्टि से समानांतर सिनेमा का दौर सबसे महत्वपूर्ण है। सत्यजीत रे, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, तपन सिन्हा, बासु चटर्जी, मणि कौल, बुद्धदेव दासगुप्त, गौतम घोष आदि प्रमुख बांग्ला निर्देशकों/फिल्मकारों ने इस नव सिनेमा, आंदोलन का नेतृत्व किया। इस दौरान बांग्ला की दर्जनों साहित्यिक कृतियों पर हिन्दी में फिल्में बनी। इस विश्लेषण के बाद हम कह सकते हैं कि 'देवदास' से लेकर 'इजाज़त' तक बांग्ला साहित्य में स्त्री की पीड़ा और उसकी अस्मिता के तमाम पहलू उपस्थित हैं, जो टेक्स्ट से विजुअल में बदलकर और प्रभावी हो गए हैं। बांग्ला साहित्य, हिन्दी सिनेमा में एक बड़ी जगह घेरता है और साहित्य के सिनेमाई रूपांतरण के कुछ बड़े प्रतिमान स्थापित होते हैं।

की-वर्ड: *हिंदी सिनेमा, बांग्ला साहित्य, स्त्री* अस्मिता

परिचय

बंगाल की ज़मीन नवजागरण की ज़मीन है। यह ज़मीन भारतीय नवजागरण और साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आधुनिकता की गंगोत्री है। आधुनिकता और नवजागरण की रचनात्मक ऊर्जा का संचार भारत में पहले-पहल यहीं हुआ। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि बंगाल ने साहित्यिक-सांस्कृतिक-सामाजिक आधुनिकता का नेतृत्व किया। औपनिवेशिक दौर से लेकर स्वातंत्र्योत्तर काल तक बंगाल साहित्य और कला-सृजन के क्षेत्र में ऊर्वर रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि बांग्ला साहित्य में बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों से ही मनुष्य-जीवन और समाज को प्रभावित करने वाले नए मुद्दों पर बहसें शुरु हो गईं। इन्हीं में से एक प्रमुख मुद्दा था- स्त्री-जीवन। हम जानते हैं कि जागरण-सुधार काल में स्त्री-जीवन की समस्याओं को प्रमुखता से संबोधित किया गया। रवीन्द्रनाथ टैगोर और राममोहन रॉय से लेकर शरतचन्द्र, विमल मित्र, प्रेमेन्द्र मित्र, नरेन्द्रनाथ मित्र और सुबोध घोष तक ने स्त्री-संघर्ष के विभिन्न रूपों से हमारा साक्षात्कार करवाया। अस्मिता-विमर्श की जिस सुदृढ़ इमारत को आज हम देखते हैं, उसकी ज़मीन बननी शुरु हो गई थी। परिवार और विवाह-संस्था के भीतर स्त्री के विभिन्न रूप, उसके सुख-दुख, उसकी महत्वाकांक्षाएँ, उसका स्वाभिमान आदि पर बहसों का सिलसिला शुरु हो गया था। हिन्दी की तुलना में बांग्ला साहित्य जगत निश्चित रूप से यहाँ आगे नजर आता है।

साहित्य और सिनेमा के बीच बेहद करीबी रिश्ता है, कुछ-कुछ सहोदर सा। हिन्दी सिने जगत ने बांग्ला की साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई रूपांतरण में भी काफी दिलचस्पी दिखाई। हिन्दी सिनेमा जैसे-जैसे परिपक्व होता जा रहा था, वह चुनौतीपूर्ण विषयों का चुनाव कर रहा था और ऐसे विषय बांग्ला साहित्य में पर्याप्त-मात्र में थे। स्त्री का प्रेम, उसके चयन का हक, स्वायत्त स्त्री की परिकल्पना से लेकर स्त्री-पुरुष संबंधों के तमाम ताने-बाने, बांग्ला साहित्य के सिनेमाई रूपांतरण की प्रक्रिया में हिन्दी सिनेमा के दर्शकों तक पहुँचे।

बांग्ला की साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई रूपांतरण की दृष्टि से समानांतर सिनेमा का दौर बेहद महत्वपूर्ण है। समानांतर सिनेमा आंदोलन भी बंगाल से शुरु हुआ। सत्यजीत रे, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, तपन सिन्हा, बासु चटर्जी, मणि कौल, बुद्धदेव दासगुप्त, गौतम घोष आदि निर्देशकों/फिल्मकारों ने इस सिने-आंदोलन का नेतृत्व किया। वाया बांग्ला यह सिने-आंदोलन हिन्दी में आया। इस दौरान बांग्ला की दर्जनों साहित्यिक कृतियों पर हिन्दी में फिल्में बनी। 'भुवनशोम', 'इजाज़त', 'परिचय', 'खंडहर' आदि फिल्मों ने हिन्दी सिनेमा की पारंपरिक एकरूपता पर आघात किया। निजी वैशिष्ट्य के साथ यथार्थवादी शैली में कथावस्तु को पर्दे पर उतारा जाने लगा। इस सिने-आंदोलन ने 'कंटेट' और 'परिवेश' को सर्वाधिक महत्व दिया, यही कारण है कि इस आंदोलन के दौरान साहित्य का सिनेमाई रूपांतरण बड़े पैमाने पर हुआ। मनुष्य का मनोविज्ञान, उसके सामाजिक संबंध,

सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ, स्त्री-जीवन का सच, मध्यवर्गीय तनावों, वर्जनाओं और अंतर्द्वन्द्वों को गहराई से पकड़ना इस सिनेमा का लक्ष्य था और इसके लिए सबसे उपयुक्त कच्चा माल साहित्य में उपलब्ध था।

बांग्ला कृतियों के साहित्यक रूपांतरण के क्रम में जिस कृति का सबसे पहले ज़िक्र होता है, वह है- 'देवदास'। शरतचंद्र चट्टोपाध्याय ने सन् 1900 में यह रचना पूरी की थी जो सन् 1917 में छपी। प्रकाशन में इस देरी की वजह शरतचंद्र की हिचकिचाहट थी, क्योंकि इस कृति में उनके कुछ निजी प्रसंग थे। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि "यह रचना उन्होंने शराब के नशे के प्रभाव में की थी और वे अपनी इस कृति पर शर्मिंदा थे।"[1] लेकिन वक्त ने इस कृति को कालजयी साबित किया और यह आधुनिक क्लासिक के तौर पर जानी गई। इस कृति का सबसे अधिक बार सिनेमाई रूपांतरण हुआ है। देवदास विभिन्न भाषाओं में 19 बार बन चुकी है, जिसमें से पाँच बार यह हिन्दी में बनी है ('देव डी' और 'दासदेव' को मिलाकर)। यह हिन्दी के अलावा बंगाली, तेलुगू, तमिल, उर्दू, असमिया और मलयालम में भी बन चुकी है। अक्सर हम प्रेम कथाओं की त्रासदी को 'शेक्सपीरियन ट्रेजेडी' के चश्मे से देखने के आदि होते हैं। मेरा मानना है कि 'देवदास' प्रेम की एक नितांत भारतीय कथा है, इसलिए इसकी त्रासदी भी उतनी ही भारतीय है।

यहाँ हम सन् 1955 में बनी और बिमल राय द्वारा निर्देशित 'देवदास' में स्त्री-अस्मिता के पहलुओं को देखने-समझने का प्रयास करेंगे। हालांकि सन् 1900 की यह कृति अपने टोन में कतई क्रांतिकारी नहीं है, इसे अस्मिता विमर्श की उत्तर आधुनिक कसौटियों पर नहीं कसा जा सकता, किन्तु इस प्रेम कहानी में स्त्री की पीड़ा और उसके पक्ष को जरूर देखा जा सकता है। देवदास एक अमीर बंगाली ब्राह्मण परिवार का युवा है, जो अपनी बचपन की दोस्त पारो से प्रेम करता है। पारो भी ब्राह्मण कुल की है, लेकिन उसके परिवार में बेटियों को दहेज के बदले ब्याहने की परम्परा रही है, इसलिए देवदास का परिवार निकटता होने के बावजूद पारो के परिवार को अपने से निम्न कुल का मानता है। ग्यारह फिल्मफेयर और दो नेशनल फिल्म अवॉर्ड जीत चुके यथार्थवादी फिल्मकार विमल रॉय ने इस फिल्म में बंगाली समाज में जाति-विभाजन और श्रेष्ठतावादी ब्राह्मणवाद के सूत्रों को बारीकी से पकड़ा है। शरतचंद्र की इस कहानी में प्रेम की मासूमियत सामाजिक यथार्थ के सामने दम तोड़ती है। सामंती समाज में प्रेम के लिए जगह नहीं है, प्रेम यहाँ 'टैबू' है। स्वाभाविक है कि ऐसे समाज में प्रेम कथा की परिणति त्रासदी में होगी। किन्तु इस त्रासदी के बीच बिमल रॉय की यह फिल्म प्रेम में मुक्ति बनाम भय और शुचिता बनाम स्वच्छंदता के विमर्शों को हमारे सामने रखती है। देवदास प्रेम करता है, लेकिन वह पुरुष है, पुरुष की सामंती सीमाओं से युक्त है। पार्वती प्रेम करती है और प्रेम उसे सामाजिक मर्यादा के भय से मुक्त करता है। फिल्म का एक बेहद महत्त्वपूर्ण दृश्य है जहाँ अपना विवाह कहीं और तय होने

के पश्चात् पारो देवदास के पास रात में जाती है, यहाँ सुचित्र सेन के चेहरे पर जो आत्मविश्वास दिखाई देता है, वह आधुनिक स्त्री का लक्षण है, प्रेम जिसे निर्भय बनाता है। किन्तु पुरुष सामंती मर्यादा के भय से मुक्त नहीं है। देवदास पूछता है- 'घर के अंदर कैसे आई? किसी ने देखा तो नहीं? बरामदे में नौकर-चाकर भी होंगे? उनकी भी नजर पड़ी होगी?--- तुमने ऐसा क्यों किया पारो? बल्कि शर्म से तुम्हारा सिर नीचे नहीं हुआ?' सामंतवाद का सर्जक और उसका नियंता पुरुष स्वयं है, किन्तु वह खुद भी इसके भय से मुक्त नहीं है। पारो जवाब देती है- 'ज़रूर होता अगर मैं यह नहीं जानती कि मेरी सारी लज्जा तुम ढक लोगे।' प्रेम विश्वास और समर्पण की चरम अवस्था है, जो यहाँ पारो में दिख रहा है। लेकिन यह विश्वास और समर्पण भी पुरुष को सामाजिक मर्यादा के भय से मुक्त नहीं कर पाता। भय और प्रेम परस्पर विलोम हैं और भय कायरता को जन्म देता है- 'लेकिन मैं भी कैसे मुँह दिखाऊँगा?' देवदास के इस जवाब में सामंती पीढ़ियों की समूची कायरता मुखर हो उठती है।

इस कृति पर बात करते हुए हमें यह याद रखने की जरूरत है कि जिस युग में यह लिखी जा रही थी, वह स्त्री-जागरण का युग भी था। अस्मिता-विमर्श की राजनीति तब भले शुरु नहीं हुई हो किन्तु नई स्त्री ने भारतीय फलक पर आकार लेना शुरु कर दिया था। पार्वती प्रेम में समर्पण जानती है, तो उसे अपने स्वाभिमान का बोध भी है। पार्वती का यह संवाद इसका प्रमाण है- 'तुम अहंकार कर सकते हो, मैं क्यों नहीं?' यह चेतन स्त्री है। स्त्री-सशक्तिकरण की बुनियादी शर्त को स्पष्ट करते हुए रमणिका गुप्ता लिखती हैं- "सशक्तिकरण की सबसे बड़ी शर्त है- चेतना, स्वावलंबन और निज की पहचान यानी स्वाभिमान व आत्मसम्मान। इसके बिना स्त्री सशक्तिकरण संभव नहीं है।"[2] सन् 1900 के आस-पास की स्त्री स्वावलंबी तो नहीं थी, लेकिन उसके भीतर चेतना के नए अंकुर फूटने शुरु हो गए थे।

उन्नीस बार बन चुकी देवदास में विमल रॉय की फिल्म इस मायने में उल्लेखनीय है कि जहाँ दूसरे निर्देशकों की फिल्मों में देवदास की पीड़ा पर फोकस अधिक है, वहीं रॉय का कैमरा स्त्री की पीड़ा, बेचैनी, उसकी कैद और उसके व्यक्तित्वांतरण को समग्रता में पकड़ता है। प्रेम में शुचिता का कोई तय फॉर्मूला नहीं होता। चंद्रमुखी का चरित्र प्रेम में शुचिता और मर्यादा की सामाजिक परिभाषाओं का अतिक्रमण करता है। तवायफ़ के प्रेम में भी उतनी ही लगन, उतना ही समर्पण और उतनी ही पवित्रता होती है। प्रेम व्यक्तित्व के रूपांतरण की विकासशील प्रक्रिया है, जिसे वैजयंती माला ने अपने अभिनय से पर्दे पर साकार किया है।

दिलीप कुमार, वैजयंती माला और सुचित्र सेन के जीवंत अभिनय और बिमल राय के बारीक व सक्षम निर्देशन ने इस फिल्म को क्लासिक पूर्णता दी है। स्याह-सफेद रील के जमाने की इस फिल्म में सिनेमेटोग्राफी और प्रकाश-व्यवस्था भी उल्लेखनीय है। फिल्म विश्लेषक दिनेश रहेजा लिखते हैं- "This film was noted for its Cinematography and Lighting under Kamal Bose"[3] । "सन्

2005 में इस फिल्म को इंडिया टाइम्स मूवीज ने '25 Must See Bollywood Films' में शामिल किया।"[4] सामंती परिवेश में स्त्री की पीड़ा को अनुभव के धरातल पर उतारने वाली यह फिल्म साहित्य के सिनेमाई रूपांतरण का एक क्लासिक उदाहरण है।

बांग्ला कृतियों के साहित्यिक रूपांतरण की इस कड़ी में हम बिमल रॉय की ही एक अन्य फिल्म 'परिणीता' को भी देख सकते हैं। शरतचंद्र की इस कृति पर बिमल रॉय ने 1953 में यह फिल्म बनाई जिसमें अशोक कुमार और मीना कुमारी मुख्य भूमिकाओं में हैं। इस फिल्म के लिए बिमल रॉय को सर्वश्रेष्ठ निर्देशक और मीना कुमारी को सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का फिल्मफेयर अवार्ड मिला। 'देवदास' की तरह यह भी एक प्रेम कहानी है, किन्तु इसका फलक 'देवदास' जितना विस्तृत नहीं है। शेखर (अशोक कुमार) एक अमीर जमींदार का बेटा है जो अपने पड़ोस में रहने वाली ललिता (मीना कुमारी) से प्रेम करता है। लड़की के पिता की छोटी हैसियत इस प्रेम में आड़े आती है। ललिता का पिता गुरुचरण अपना घर शेखर के पिता के पास गिरवी रखता है। ऋण चुकाने के लिए शेखर का पिता उस पर दबाव बनाता है। इसी क्रम में एक युवा अमीर गिरीन गुरुचरण की मदद करता है, जिससे यह अफवाह फैलती है कि ललिता को उसके पिता ने गिरीन को बेच दिया।

परिणय का संबंध जितना सामाजिक है, उतना ही निजी भी, हृदयगत भी। ललिता ने खुद को शेखर की परिणीता मान लिया है, जिसके लिए उसे किसी सामाजिक सर्टिफिकेट की जरूरत नहीं है। बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों के लिहाज से यह एक बोल्ड स्त्री की छवि है, जिसे मीना कुमारी ने बेहद मजबूती से पर्दे पर उतारा है। ललिता प्रेम करती है, प्रेम को स्वीकारने का साहस रखती है, किन्तु वह अपने बारे में फैलाए गए अफवाह की सफाई अपने प्रेमी को देना ज़रूरी नहीं समझती। वह खुद को परिणीता मानने के बावजूद बंधुआ सेविका व पति पर आश्रित गुलाम की भूमिका नहीं चुनती। विवाह संस्था की सड़ांध को उद्घाटित करते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा है- "व्यावहारिक सच्चाई यह है कि पत्नी अभी भी अपने पति की बंधुआ सेविका ही है और उसमें व किसी गुलाम में कोई बुनियादी फर्क नहीं है।"[5] ललिता का सफाई न देना उस बुनियादी फर्क को पैदा करता है, जो विवाह संस्था में अनुपस्थित है। इस तरह से नए बनते भारतीय समाज का परिचय शरतचंद ओर बिमल रॉय एक नई लड़की से कराते हैं, जो भारतीय समाज और परिवार के मूल्यों के दायरे के भीतर रहकर भी अपने स्वत्व के लिए जूझती है और नई हवा के लिए पुरानी दीवारों में खिड़की खोलती है।

शरतचंद्र की इस कृति पर एक और उल्लेखनीय फिल्म प्रदीप सरकार ने सन् 2005 में बनाई। इस फिल्म में सैफ अली खान, विद्या बालन और संजय दत्त मुख्य भूमिकाओं में हैं। विधु विनोद चोपड़ा ने इस फिल्म का स्क्रीन प्ले लिखा है, जो निस्संदेह उम्दा है। इस फिल्म में विद्या बालन परम्परा और आधुनिकता के संयोग को अपने अभिनय में साकार करने में बेहद सफल रही हैं। इस फिल्म को पाँच

फिलम फेयर अवार्ड मिले और इसके निर्देशक प्रदीप सरकार को सर्वश्रेष्ठ डेब्यूटेंट निर्देश के नेशनल अवार्ड से नवाजा गया।

स्वातंत्र्योत्तर सिनेमा में जिस फिल्मकार ने रिश्तों के ताने-बाने, उनके भीतरी द्वन्द्व और स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलताओं को यथार्थवादी ढंग से पर्दे पर उतारा है, उसका नाम है गुरुदत्त। गुरुदत्त ने हिन्दी सिनेमा को 'प्यासा', 'कागज के फूल', 'साहिब बीबी और गुलाम' और 'चौदहवीं का चाँद' जैसी फिल्में दीं। बिमल मित्र की एक बांग्ला कहानी पर गुरुदत्त ने 'साहेब बीबी और गुलाम' बनाई, जिसके निर्देशक अबरार अल्वी थे। हालांकि इस फिल्म के बारे में लम्बे समय तक यह विवाद रहा कि निर्देशन गुरुदत्त ने ही किया था। फिल्म में गुरुदत्त, मीना कुमारी, वहीदा रहमान, नजीर हुसैन और रहमान मुख्य भूमिकाओं में हैं। यह एक उपेक्षित स्त्री की कहानी है, जो सामंती हवेलियों की ऊँची दीवारों के बीच प्रेम ढूँढ रही है। सामंती समाज में स्त्री की सबसे बड़ी उपलब्धि है- परिवार। किन्तु परिवार की चारदीवारी में जब वह एक सजावटी सामान की तरह कैद कर दी जाए तो घुटन स्वाभाविक है। छोटी बहू एक बड़ी हवेली में रहती है, जहाँ सुख-साज के सारे साधन मौजूद है लेकिन ये 'सारे सुख खोखले हैं।' क्योंकि सुख का आधार वह पति ही अनुपस्थित है स्त्री के जीवन में। छोटी बहू अपने पति को अपने पास रखना चाहती है, उससे प्रेम चाहती है, उसका प्रेम पाने के लिए वह तवायफों की तरह रहने को भी तैयार है- 'मुझे भी बाजारबाड़ी में रख दो, इसी बहाने रोज तुम्हें देख तो सकूँगी।' छोटी बहू एक पत्नी है और एक आदर्श पत्नी की तरह वह पति के चरणों में स्वर्ग ढूँढ रही है, लेकिन पति के पैर घर में ठहरे तब तो उसकी साध पूरी होगी। उत्तर-आधुनिक अस्मिता-विमर्श के दौर में छोटी बहू का चरित्र पिछड़ा और गैर प्रगतिशील लग सकता है। लेकिन 1962 की इस फिल्म में अपने प्रेम को पाने के लिए किसी भी सीमा तक जाने को तैयार इस चरित्र के माध्यम से विवाह-संस्था में स्त्री की पीड़ा का सच ज़रूर उद्घाटित होता है। इस फिल्म से एक सदी पहले ही फ्रेडरिक एंगेल्स इस सच को अभिव्यक्त कर चुके थे। वे लिखते हैं- "आधुनिक परिवार पत्नी की स्पष्ट या प्रछन्न दासता पर टिका है--- परिवार के अन्दर वह (पुरुष) बुर्जुआ है और उसकी पत्नी सर्वहारा का प्रतिनिधित्व करती है।"[6]

पिछली सदी के सातवें-आठवें दशक में हिन्दी सिने जगत में समानांतर सिनेमा का प्रभाव तेजी से बढ़ा। इसी दौर में मृणाल सेन ने 'भुवन शोम' बनाई, जो बांग्ला कहानीकार बनफूल की कहानी पर आधारित थी। 1969 की इस फिल्म ने हिन्दी सिनेमा का मिजाज़ क्रांतिकारी ढंग से बदला। इस फिल्म के जरिए उस दौर के बेहद सक्षम निर्देशक मृणाल सेन ने यह साबित किया कि एक अच्छी फिल्म रोमांस के तड़के और एक्शन-दृश्यों के बगैर भी बनाई जा सकती है। समानांतर सिनेमा के दौर में फिल्म के लिए सबसे महत्वपूर्ण चीज है- कंटेंट। भुवन शोम एक कड़क रेलवे अफसर है जो रेलवे कर्मियों के साथ बेहद सख्ती से पेश आता है। रिश्वतखोरी के मामले में वह टिकट कलेक्टर जाधव पटेल

के खिलाफ रिपोर्ट तैयार कर रहा है। काम के पक्के, ईमानदार और विशुद्ध बंगाली इस अफसर के निजी जीवन में एक गहरा सन्नाटा है। पत्नी नहीं है, कोई साथ नहीं रहता। बेइंतहा अकेलापन, अजनबीपन और एक खास किस्म के आत्म निर्वासन ने भुवनशोम का जीवन बेरंग और नीरस बना दिया है। आजादी के बाद जो नया मध्यवर्ग भारत में तेजी से पनपा वह अपनी महत्वाकांक्षाओं की दौड़ में अपनी जड़ों से कटता चला गया। यांत्रिक होते जा रहे समाज में वह अलग-थलग पड़ता गया। जो तन्हाई भुवन शोम के व्यक्तित्व में है वह तब के विस्थापित शहरी मध्यवर्ग के जीवन का सच है।

मृणाल सेन ने अपने समय के इस बड़े मुद्दे को उठाया है और इस आत्मनिर्वासित व्यक्तित्व में रंग और रस की पुनर्वापसी करवायी है। और यह पुनर्वापसी एक स्त्री चरित्र के माध्यम से होती है। अपने जीवन की एकरसता से एक दिन ऊबकर भुवन शोम छुट्टी लेकर चिड़ियों के शिकार पर निकल पड़ता है। बैलगाड़ी पर बैठे, गाड़ीवान से लोकगीत सुनते भुवनशोम का परिचय जीवन के एक नए आयाम से होता है। शिकार के इस क्रम में उसे गौरी मिलती है और उसकी उन्मुक्त हँसी भी। ऐसी मुक्त और निश्छल हँसी से भुवन शोम का परिचय पहली बार होता है। एक ऐसा व्यक्ति जिसे कभी आत्मीयता नहीं मिली, वह इस रेगिस्तानी गाँव में देखता है कि यहाँ जानवर भी परिवार के सदस्य की तरह है। भैंस और मैना के भी नाम हैं और उनके बारे में गौरी परिवार के सदस्यों की तरह बात करती है। भुवन शोम के लिए यह एक नई दुनिया है, वह जहाँ से आया है, उससे अलग, ज्यादा सहज, ज्यादा आत्मीय। यह वो दौर था जब भारत में गाँव और शहर की खाई बढ़ती जा रही थी। यह दूरी मानवीय स्वभाव को निर्णायक ढंग से प्रभावित कर रही थी। फिल्म में एक बेहद महत्त्वपूर्ण प्रसंग है- कपड़े बदलने का। गौरी भुवन शोम को सुझाव देती है कि वह अपने शहरी कपड़े बदलकर गाँव वालों जैसे कपड़े पहन ले, इससे चिड़िया उससे डरेगी नहीं और वह आसानी से उसका शिकार कर पाएगा। यह प्रसंग भुवन शोम के व्यक्तित्वांतरण का प्रसंग है। कपड़े बदलना भुवन शोम के व्यक्तित्व के रूपांतरण का प्रतीक है। गाँव के किसान का वेश धारण करने के बाद और गौरी की आत्मीयता से निरंतर सींचते हुए भुवन शोम के भीतर की कठोरता, कड़वाहट, अकेलापन सब बहते जाते हैं। फिल्म के 59वें मिनट में भुवन शोम पहली बार हँसता हुआ दिखाई पड़ता है। निर्देशक ने रंगमंचीय ट्रीटमेंट के जरिए बेहद गहराई से इस तथ्य को प्रस्तुत किया है कि स्त्री के हृदय की कोमलता, निश्छलता, प्रकृति का सान्निध्य और ग्राम्य जीवन की सहजता ही नागरी शुष्कता और कठोरता का शमन कर सकती है।

शहर का आदमी सहजता से डरता है, परिवर्तन से डरता है। यह डर ही उसे खुद से दूर करता जाता है। चिड़िया के शिकार के बाद गौरी भुवन शोम से कहती है- ''इसे गोली नहीं लगी, बन्दूक के धमाके से डर के ही गिर गया।" इस संवाद में गौरी डर के समूचे मनोविज्ञान को अभिव्यक्त कर देती है। शहरी भुवन शोम की समस्या यह थी कि वह अपने ही व्यक्तित्व की कैद में था, वह अपने व्यक्तित्व

को बदलने से डरता था। गौरी ने पहली बार उसे जीना सिखाया, जीवन के रंगों से उसका परिचय कराया। गौरी की हँसी ने उसके भीतर उदारता के बीज अंकुरित किए, उसने माफ़ करना सीखा। फिल्म के आखिरी दृश्य में जाधव पटेल को माफ़ करने के बाद भुवन शोम के चेहरे पर जो खुशी दिखती है, उसके होठों से जो लोकगीत फूटते हैं, वह उसके शरीर में जीवन की उमंग की वापसी के प्रमाण है। मृणाल सेन ने कायांतरण की इस पूरी प्रक्रिया में स्त्री के जिस भूमिका को पहचाना है, वह उल्लेखनीय है।

समानांतर सिनेमा के यथार्थवादी दौर में सन् 1973 में सुधेन्दु रॉय ने नरेन्द्र नाथ मित्र की कहानी 'रस' पर 'सौदागर' नाम से एक शानदार फिल्म बनाई। नरेन्द्र नाथ की यह कहानी पुरुष की मूल प्रवृत्तियों का उद्घाटन करती है। स्त्री, पुरुष के लिए भोग्या है। स्त्री को 'ऑब्जेक्ट' समझे जाने की मानसिकता ने पुरुष को सौदागर बनाया है। मुनाफाखोर पुरुष, स्त्री के प्रेम का सौदा करने से नहीं हिचकता। फिल्म में नूतन ने विधवा माजूबी का किरदार निभाया है, जो बेहद स्वादिष्ट गुड़ बनाती है। मोती (अमिताभ बच्चन) पेड़ से रस उतारता है, जिससे माजु गुड़ बनाती है ओर मोती उसे बाजार में बेचता है। मुनाफे में दोनों की हिस्सेदारी है। मोती, फूलबानो (पद्मा खन्ना) से निकाह करना चाहता है, पर उसके पिता को देने के लिए उसके पास मेहर के पैसे नहीं है। मेहर के पैसे इकट्ठा करने के लिए वह षड्यंत्र के तहत माजुबी से शादी करता है, ताकि उसे मुनाफा न बाँटना पड़े। भारतीय समाज में स्त्री का श्रम हमेशा से उपेक्षित रहा है और अगर स्त्री पत्नी है तो उसका श्रम मूल्यहीन हो जाता है। 'हाउस वाइफ' जैसे तिरस्कृत संबोधन इसके उदाहरण है। मार्गरिट बेन्सटन इस लिंगभेदी षड्यंत्र को बेनकाब करती हुई लिखती हैं – "एक ऐसे समाज में जहाँ स्त्री मुद्रा-अर्थशास्त्र की परिधि से बाहर काम करती है, उसके कामों को मुद्रा से नहीं आँका जाता है। अतः वह मूल्यहीन होता है।"[7] जब तक माजुबी पत्नी नहीं थी, उसके काम का मेहनताना उसे मिलता था, पत्नी होती ही वह मुफ़्त सेविका बन जाती है। इस पारस्परिक संबंध में पुरुष शातिर है, स्वार्थी है, उसकी प्रवृत्ति 'रस' निचोड़ने की है। मोती के इस संवाद में पुरुष का यह चेहरा बेनकाब होता है- "जब तक पेड़ों में रस है ओर बदन को सर्दी लगती है तभी तक माजु भी मेरे घर में है, दक्खिन की हवा जैसे ही चलेगी, माजुबी को साथ उड़ा के ले जाएगी।"

यह फिल्म एक तरफ जहाँ पुरुष की मुनाफाखोरी और उसके भीतर के शातिर सौदागरी से हमारा परिचय कराती है, वहीं यह स्त्री को देह-मात्र में रिड्यूस करने का तार्किक विरोध भी करती है। स्त्री देह-भर नहीं है, उसकी अस्मिता 'रूप' तक सीमित नहीं। उसके गुण, उसका श्रम उसके वजूद का निर्माण करते हैं। इससे भी आगे- क्षमा करने का अपार साहस इस स्त्री की अस्मिता का हिस्सा है।

स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर कला और साहित्य की तमाम विधाओं में बहसें हुई हैं। बीसवीं सदी का मध्य, जब से रेडिकल फेमिनिज्म की शुरुआत हुई, तब से उत्तर-आधुनिक अस्मिता-विमर्श के दौर तक, इस मुद्दे पर जो बहसें हुई हैं, उसमें इस संबंध को अपराधी ओर पीड़ित, शोषक और शोषित के खानों में बाँटकर देखा गया है। सभ्यता के विकास के इतिहास में स्त्री की स्थिति अधिकांशतः पीड़ित और शोषित की ही रही है, किन्तु इस ब्लैक एंड वाइट डिविजन से परे स्त्री-पुरुष संबंधों का एक विस्तृत 'ग्रे' इलाका भी है, जो बेहद जटिल है, जिसे शोषक ओर शोषित की परिभाषा में बयान नहीं किया जा सकता। यह हिन्दी सिनेमा की परिपक्वता है कि उसने इस 'ग्रे' इलाके की जटिलता को भी पकड़ने की कोशिश की है और इसका एक बेहद सार्थक उदाहरण है- गुलजार द्वारा निर्देशित 'इजाज़त'। 1987 में बनी यह फिल्म बांग्ला कहानीकार सुबोध घोष की कहानी 'जातु गृह' पर आधारित है।

'इजाज़त' में पति, पत्नी और प्रेमिका के त्रिकोण को बेहद परिपक्व ढंग से दिखाया गया है। अक्सर बॉलीवुड में इस विषय पर बनी फिल्में सरलीकरण की तरफ बढ़ चलती है। लेकिन गुलजार ने इसे सरलीकृत होने से बचाया है। इस फिल्म के बारे में फिल्म-विश्लेषक फरहाना फारूख़ ने लिखा है- "One of Gulzar's most sensitive film, it also remains Rekha's most poignant performance as the possessive wife, who give up her husband rather than share him with another woman."[8] फिल्म में रेखा, नसीरुद्दीन शाह और अनुराधा पटेल मुख्य भूमिकाओं में हैं। फिल्म की शुरुआत रेलवे स्टेशन पर होती है, जहाँ वेटिंग रुम में महेन्द्र और सुधा मिलते हैं, जो पाँच साल पहले पति-पत्नी थे। इसके बाद पूरी कहानी फ्लैशबैक में चलती है। फिल्म में दो मुख्य स्त्री-पात्र है- सुधा और माया। सुधा न सिर्फ एक कुशल पत्नी है बल्कि उसे हम नए ढंग की पत्नी भी कह सकते हैं। अपने लिबास और बातचीत में पारम्परिक, किन्तु अपनी सोच में नई। इस चरित्र को गढ़ने में गुलजार ने संतुलन और परिपक्वता का शानदार परिचय दिया है। आधुनिकता के नारे ओर उसके तयशुदा यूनीफार्म के बगैर यह एक आधुनिक पत्नी का चरित्र है, जो अपने पति की प्रेमिका के पत्र संभालकर रखती है, बिना किसी शिकायत के। जो प्रेमिका के प्रेम-पत्र चाव से सुनती है, जो उन चिट्ठियों से टपक रही पीड़ा को महसूसती है। लेकिन अपने पति के विवाह-पूर्व के संबंधों की वजह से वह एक अधूरे संबंध में नहीं जी सकती। वह उस घर में असहज है, जहाँ "सबकुछ ही बँटा हुआ लग रहा है इस घर में पूरा अपना कुछ नहीं लगता।" यह एक नई स्त्री है जो खुद को पूरा देती है और बदले में पति/पुरुष से पूरा चाहती है, आधा-अधूरा नहीं। जो तलाक लेने की नहीं देने की सोचती है। उसके स्कूल की प्रिंसिपल जब उससे पूछती है- "तलाक लेने का सोच रही हो।" वह जवाब देती है- "नहीं, देने

का सोच रही हूँ।" यह मात्र क्रिया (verb) प्रयोग का अंतर नहीं हैं यह वजूद के परिवर्तन का सूचक है। यह वाक्य नई स्त्री के आत्मविश्वास और उसकी दृढ़ता का सूचक है।

फिल्म में दूसरी स्त्री किरदार है- माया। उन्मुक्त, अल्हड़, माया जिसे किसी पिंजड़े में कैद नहीं किया जा सकता, कुछ-कुछ हिप्पीज के जमाने की लड़की, जो बाइक चलाती है, कविता लिखती है, प्रेम करती है, पर प्रेम के बंधन में अपने साथी को न बाँधती है, न खुद बँधती है। प्रतिदान की कोई अपेक्षा नहीं है इस प्रेम में। माया का प्रेम अज्ञेय की कविता की याद दिलाता है- "ओ प्यार ! कहो, है इतना धीरज / चलो साथ / यों; बिना आशा-आकांक्षा / गहे हाथ"।[9]

अस्सी के दशक तक भी मध्यवर्गीय समाज में प्रेम और प्रेम-विवाह जैसी घटनाएँ फिल्मी पर्दों पर ही घटती थीं, ऐसे समय में गुलजार ने प्रकारांतर से महेन्द्र और माया के बीच सहजीवन (लिव-इन रिलेशन) का जो चित्रण किया है, वह अपने समय से आगे की सोच है। विवाह जिस प्रकार संस्थागत रूप में स्त्री-शोषण का 'टूल' है, उसे प्रश्नांकित करना आधुनिक समाज का लक्षण होना ही चाहिए। कई बार सिर्फ सवाल पूछते रहने भर से सुधार की गुंजाइश बनी रहती है।

स्त्री-पुरुष संबंध एकरेखीय नहीं होते। खासतौर से स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मध्यवर्ग के जागरण और विकास के साथ स्त्री-पुरुष संबंध बदलते और जटिल होते चले गए। नई कहानी में इसकी पर्याप्त अभिव्यक्तियाँ है। गुलजार की इस फिल्म को हम नई कहानी के एक पाठ की तरह भी पढ़ सकते हैं। यहाँ पुरुष भी नए ढंग का है, बदलता हुआ, सामंती संरचना से बाहर निकलता हुआ। यह पुरुष स्वीकार करता है कि "सबकुछ वही तो नहीं है लेकिन है वहीं, उसी जगह।" जिसके भीतर दाम्पत्य के टूटने की पीड़ा स्त्री से कम नहीं है। जो यह कहता है कि 'जो सच है और सही है' वह सुधा कर सकती है। 'सच और सही' के कर्ता के रूप में स्त्री की पहचान करने वाला यह पुरुष निस्संदेह नया है। फिल्म के अंत में अपराधबोध से ग्रसित सुधा कहती है- "पिछली बार बिना पूछे चली गई थी, इस बार इजाज़त दे दो।" यह अपराधबोध तभी संभव है जब स्त्री और पुरुष के बीच शिकारी और शिकार का संबंध न हो। इस अंतिम वाक्य की व्याख्या यह भी हो सकती है कि यहाँ सुधा एक कमजोर और पारंपरिक भारतीय पत्नी के रूप में दिखाई देती है, लेकिन यह परिभाषा अतिवादी स्त्रीवाद के चश्मे से निकलेगी। गुलजार ने अपनी फिल्म को इस अतिवाद से बचाते हुए स्त्री-पुरुष संबंधों की बारीकी और दाम्पत्य के बिखरने की पीड़ा को गहराई से पकड़ा है। फिल्म के इस नायाब पहलू को रेखांकित करते हुए फिल्म-विश्लेषक ललित मोहन जोशी लिखते हैं- "Ijazat recreates the tingling Sensation of a nature romance. It looks as an unusual male-female relationship, a subject less often broached in Hindi films... The film executes a sentimental feeling that seems more touching that the recent teeny bopper romance stories."[10]

निष्कर्ष

इस विश्लेषण के बाद हम कह सकते हैं कि 'देवदास' से लेकर 'इजाज़त' तक बांग्ला साहित्य में स्त्री की पीड़ा और उसकी अस्मिता के तमाम पहलू उपस्थित हैं, जो टेक्स्ट से विजुअल में बदलकर और प्रभावी हो गए हैं। बिमल रॉय, मृणाल सेन, गुरुदत्त, सुधेन्दु रॉय और गुलजार जैसे समर्थ निर्देशकों ने इन साहित्यिक कृतियों पर बेहद सार्थक ओर सर्जनात्मक फिल्में बनाई हैं और हिन्दी सिनेमा को समृद्ध किया है। जहाँ तक अंतर्विधात्मक रूपांतरण के क्रम में कृति की आत्मा के संरक्षण का सवाल है, हम देख सकते हैं कि रूपांतरण की प्रक्रिया में ये कृतियाँ अधिक सम्पन्न हुई हैं और उन्हें अर्थ-विस्तार मिला है। ऊपर जिन निर्देशकों के नाम आपने पढ़े, वे न सिर्फ अपने समय के श्रेष्ठ निर्देशक है, बल्कि उनका काम उन्हें कालजयी बनाता है। ये निर्देशक न सिर्फ 'कंटेंट' के कुशल पारखी थे बल्कि वे तकनीकी रूप से भी बेहद सक्षम थे। जिन फिल्मों का विश्लेषण इस शोध पत्र में किया गया है, उन सभी फिल्मों में उनके निर्देशकों की सशक्त उपस्थिति और उनके नितांत मौलिक अंदाज दिखते हैं। ये कुछ महत्वपूर्ण कारण हैं, जिनकी वजह से बांग्ला साहित्य हिन्दी सिनेमा में एक बड़ी जगह घेरता है और साहित्य के सिनेमाई रूपांतरण के कुछ बड़े प्रतिमान स्थापित होते हैं।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. प्रोथोम अलो, 23-12-2018 की एक रिपोर्ट के अनुसार।
2. रमणिका गुप्ता, स्त्री-विमर्श: कलम और कुदाल के बहाने, पृ- 11
3. दिनेश रहेजा, दि परसेप्टिव कैमरा ऑफ बिमल रॉय, रेडिफ डॉट कॉम, 9-12-2022
4. रचना कँवर, इंडिया टाइम्स मूवीज, 03-10-2005
5. जॉन स्टुअर्ट मिल, स्त्री और पराधीनता, पृ- 41
6. एफ. एंगेल्स के. मार्क्स, दि ओरिजिन ऑफ फैमिली, पृ- 79
7. अरविन्द जैन, लीलाधर मंडलोई (सं-), स्त्री-मुक्ति का सपना, पृ- 176
8. फरहाना फारूख, फिल्म फेयर, 13-07-2010
9. कृष्णदत्त पालीवाल (संप.), अज्ञेय रचनावली खंड-1, पृष्ठ-104 ('आश्वस्ति' कविता से)
10. ललित मोहन जोशी, बॉलीवुड: पॉपुलर इंडियन सिनेमा, पृ- 123